शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

# आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जनवरी : १९६१ ☆ वर्ष सोलहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ९

## महापुराण

श्री जिनसेन और गुणभद्र जैसे दो महान आचार्यों द्वारा रचित 'महापुराण' भारतीय कथा-साहित्य की एक महत्वपूर्ण महान निधि है। उसमें जैनधर्म के २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण—इसप्रकार ६३ शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र दिया गया है। तदुपरान्त उनसे सम्बन्धित अन्य अनेक मोक्षगामी जीवों के जीवन का वर्णन है। इस महापुराण में तीर्थंकर के मात्र एक ही जीवनकाल का वर्णन नहीं है, किन्तु उनके अनेक पूर्व जन्मों का भी विवेचन किया गया है; इसलिये उनकी धार्मिक या आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग स्पष्ट प्रतिभासित होता है। वास्तव में इन जीवन चरित्रों द्वारा धर्मानुरागी जीवों के समक्ष अनेक आत्माओं के आध्यात्मिक विकास के विविध दृश्य उपस्थित होते हैं, जिससे पाठकों के हृदय में धार्मिक श्रद्धा तथा आध्यात्मिक भावना उत्पन्न होती है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[ १८९ ]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )

## नया प्रकाशन

## श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

# श्री नियमसारजी

### ( सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित )

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

मिलने का पता —

**श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट**

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

# श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

### प्रथम भाग ( तीसरा संस्करण )

छपकर तैयार है, जिन्हें चाहिये वे शीघ्र आर्डर भेजकर मंगवा लेवें। मूल्य ६० न. पैसे।

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

# आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

जनवरी : १९६१ ☆ वर्ष सोलहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ९

## पूज्य गुरुदेव के
# प्रवचनों का सारांश

**( राजकोट शहर में पूज्य गुरुदेव ने जो प्रवचन किये थे उनका कुछ सारांश यहाँ दिया जा रहा है। )**

**[ समयसार गाथा ९२, तथा आगे की गाथाओं से ]**

### ( १ ) कर्ताकर्मपना

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को वास्तविक कर्ताकर्मपना किसके साथ है, उसे जाने बिना, अज्ञान के कारण रागादि परभावों के साथ एकता मानकर उन्हीं के कर्ताकर्मरूप से परिणमित होता हुआ जीव संसार-भ्रमण कर रहा है। वह संसार भ्रमण कैसे दूर हो ? उसके लिये आचार्यदेव आत्मा का यथार्थ कर्ताकर्मपना समझाते हैं।

### ( २ ) पर्यायान्तर होता है... द्रव्यान्तर नहीं होता।

इस जगत में अनंत जीव और अजीवद्रव्य हैं; प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र भिन्न-भिन्न है। कोई द्रव्य बदलकर अन्य द्रव्यरूप नहीं हो जाता। द्रव्यरूप से नित्य रहकर उसकी पर्याय बदलती रहती है; इसलिये द्रव्य का द्रव्यान्तर नहीं होता किन्तु पर्यायान्तर होता है। जैसे कि—जीवद्रव्य में उसकी अज्ञानदशा बदलकर ज्ञानदशा होती है, संसारदशा बदलकर सिद्धदशा होती है;—इसप्रकार पर्यायान्तर होता है किन्तु जीव बदलकर अजीव हो जाये, ऐसा नहीं होता, अर्थात् द्रव्यान्तर नहीं होता।—इसप्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय बदलने पर भी भिन्न-भिन्न स्वरूप में ही रहते हैं।

**( ३ ) धर्म का मूल है भेदज्ञान**

ज्ञानस्वरूप आत्मा होकर ज्ञानभाव को करे वह तो उसका वास्तविक कर्ताकर्मपना है; किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्ता होकर रागादि परभावों को करे तो वह उसका यथार्थ कर्ताकर्मपना नहीं है, परन्तु अज्ञान से ही वह कर्ताकर्मपना उत्पन्न हुआ है। ज्ञानरूप निजभाव को और रागादि परभाव को भिन्न-भिन्न जानकर भेदज्ञान करने से रागादि का कर्तृत्व छोड़कर जीव अपने ज्ञान-आनन्द भाव का ही कर्ता होता है, उसका नाम धर्म है। इसप्रकार भेदज्ञान वह धर्म का मूल है।

**( ४ ) अज्ञान ही संसार का मूल है**

यहाँ आचार्यदेव ऐसा समझाते हैं कि अज्ञान से ही आत्मा कर्मों का कर्ता होता है; जब उसे भेदज्ञान होता है, तब अपने ज्ञानभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित होता हुआ वह कर्मों का कर्ता नहीं होता। जिन्हें अपने स्वभाव से भिन्न जाना, उनमें तन्मय क्यों होगा?—नहीं होगा। इसप्रकार जब तक आत्मस्वभाव और रागादि का भेदज्ञान नहीं है, तभी तक अज्ञान के कारण कर्म का कर्तृत्व है और तभी तक संसार है। इसलिये अज्ञान ही संसार का मूल है।

**( ५ ) राग वह ज्ञान का ज्ञेय है, ज्ञान का कार्य नहीं है**

धर्मी जीव ऐसा जानता है कि जो ज्ञान होता है, वह मेरे स्वभाव से अभिन्न है, तथा जो रागादि परभाव हैं, वे मेरे स्वभाव से भिन्न हैं। रागादि भाव मेरे ज्ञान में ज्ञेयरूप से निमित्त हैं, किन्तु वे मेरे ज्ञान के कार्यरूप नहीं हैं। ज्ञान में राग का अनुभव होने पर अज्ञानी तो उसे ज्ञान का कार्य मान लेता है, इसलिये राग से भिन्न कोई कार्य उसे भासित नहीं होता; राग ही मैं हूँ—ऐसा मानकर राग के कर्तारूप से परिणमन करता हुआ वह कर्मबंध करता है। ज्ञानी तो राग को जानते समय उसे अपने से भिन्न मानकर, ज्ञान का कार्य नहीं मानता, इसलिये राग से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप को जानकर, उसे ज्ञानभावरूप से ही परिणमित होता हुआ कर्मबंध नहीं करता।—यह मोक्ष का उपाय है।

**( ६ ) किसे समझाते हैं यह बात?—स्वभाव के अभिलाषी को।**

जिसके अंतर में बंधन से छूटने की तीव्र इच्छा जागृत हुई, तथा श्रीगुरु के निकट जाकर आत्मस्वरूप को समझने की जिसे अभिलाषा है, उसे यह बात समझाते हैं। आचार्यदेव के भी लक्ष में है कि ऐसी पात्रतावाला जीव अवश्य ही यह बात समझ लेगा। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—भगवान महावीर के बोध का पात्र कौन है? कि जो सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी हो वह। सूक्ष्मबोध अर्थात् आत्मस्वभाव का ज्ञान। स्थूलबोध अर्थात् पुण्य-पाप की बात तो जीव ने अनंत

काल से सुनी है, किन्तु पुण्य-पापरहित चिदानन्दस्वभाव की सूक्ष्म बात पहले कभी नहीं सुनी—लक्ष में नहीं ली। अब, जिसे अंतर में ऐसा लगा है कि इस राग की आकुलता से पार मेरा चिदानन्दस्वरूप क्या है, उसे मैं समझ लूँ!—ऐसी जिज्ञासा रखनेवाले सूक्ष्मबोध के अभिलाषी को आचार्यदेव यह बात समझाते हैं और वह जिज्ञासु जीव अवश्य जाता है।

### ( ७ ) अंतर्मुखदृष्टि के अभाव में....

आत्मा ज्ञान का समुद्र है; वह ज्ञान के साथ आनन्द भी है। स्वसन्मुख होकर अपने में ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करने के बदले बहिर्मुखरूप से ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता है, उसी का नाम संसार है। अंतर में आनन्द का समुद्र है किन्तु अंतर्मुख दृष्टि के अभाव में ही आनन्द का अभाव है। भाई! अंतर्मुख दृष्टि में आत्मा को ही ध्येय बनाकर ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित होना, वह तेरा स्वभाव है।

### ( ८ ) अज्ञानी का कर्तृत्व

मैं परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दरूप हूँ—ऐसा अपना अस्तित्व भासित न होने पर, क्षणिक राग-द्वेष की वृत्तियों में ही 'यह मैं.....' इसप्रकार अपना अस्तित्व मानता है, वह अज्ञानी जीव अपने को रागी ही मानता हुआ राग का कर्ता होता है। अज्ञानी का यह कर्तृत्व ही संसार का मूल है।

### ( ९ ) जिसकी रुचि उसका कर्तृत्व

जिसे जो रुचिकर हो, उसी को वह अपना कार्य बना लेता है। जिसे राग की ही रुचि है, ऐसा अज्ञानी जीव, राग को ही अपना कार्य बनाता है, राग की रुचि के समक्ष उसे चैतन्य की प्रीति नहीं है। और जो जीव आत्मार्थी है, जिसे चैतन्य की प्रीति है, वह चैतन्य से विरुद्ध ऐसे रागादि को अपना कार्य नहीं बनाता। अर्थात् धर्म की भूमिका में होनेवाले शुभराग को भी हितरूप, या करनेयोग्य नहीं मानता।

### ( १० ) कर्तृत्व की मर्यादा और उसका फल

जीव के कर्तृत्व की मर्यादा उसके परिणाम में ही है; अपने परिणाम से बाहर किसी भी परद्रव्य का कर्तृत्व तो ज्ञानी या अज्ञानी किसी को कभी नहीं है। अज्ञानी विकार को ही अपना कर्तव्य मानता हुआ उसका कर्ता होता है और उसके आकुलतामय स्वाद का अनुभव करता है। ज्ञानी तो ज्ञान और राग का भेदज्ञान करके ज्ञान को ही अपना कार्य जानता हुआ राग का कर्ता नहीं होता, किन्तु ज्ञान का ही कर्ता होकर निराकुल स्वाद का अनुभव करता है। आत्मा के निराकुल

आनन्द का स्वाद ऐसा है कि जगत के किसी भी पदार्थ में—इन्द्रपद के वैभव में भी वह स्वाद नहीं मिलता।

### ( ११ ) अरे जीव! तू जाग! तू तो ज्ञान है

जिसप्रकार कोई मनुष्य भ्रमवश दूसरे के वस्त्र को अपना मानकर, उसे ओढ़कर सो रहा हो.... वहाँ कोई जानकार पुरुष आकर कहे कि—अरे भाई! तू जाग! यह वस्त्र तेरा नहीं है, यह तो पराया है, इसलिये उसे पराया जानकर छोड़ दे।—ऐसा कहते ही वह जाग उठता है तुरन्त स्वामीत्व में उसका त्याग हो जाता है और उस वस्त्र को निःशंकरूप से पराया मानकर छोड़ देता है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को भूलकर, रागादि परभावों को ही अपना मानता हुआ, राग की वृत्ति का ओढ़ना ओढ़कर सो रहा है; रागवृत्ति के ओढ़ने में उसने ज्ञानस्वभाव को ढँक दिया है। वहाँ कोई संत-धर्मात्मा उसे जगाते हुए कहता है कि अरे जीव! तू जाग! तू तो ज्ञान है। यह रागादि की वृत्तियाँ तेरे स्वभावरूप नहीं हैं, हितकर नहीं हैं किन्तु परभावरूप है, अहितकर हैं; इसलिये उन्हें अपने स्वभाव से भिन्न जानकर छोड़ दे!—ऐसा कहते ही जागृत होकर अर्थात् अंतर में भेदज्ञान करके वह रागादि के कर्तृत्व को निःशंकतया अपने स्वभाव से भिन्न समझकर ज्ञानी होता हुआ छोड़ देता है। इसप्रकार रागादि का अकर्तृत्व होने पर उस आत्मा को बंधन नहीं होता, किन्तु मोक्ष होता है।

# चेतना गुण की शक्ति

### आत्मा को विभाव से भिन्न रखती है

समस्त विभावों से भिन्न ऐसा शुद्ध आत्मा शुद्धचेतना द्वारा अंतर में सदा प्रकाशमान है। चेतनागुण की ऐसी शक्ति है कि वह किन्हीं भी विभाव भावों को आत्मा के स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होने देता; शुद्ध आत्मा को विभावों से भिन्न ही रखता है।

### मिथ्या मान्यताओं को दूर करता है

शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करनेवाला वह चेतनागुण समस्त विरुद्ध मान्यताओं का नाश करनेवाला है। शरीर, वह जीव है; राग, वह जीव है, तथा जीव कर्मयुक्त है—इत्यादि जो जीव के स्वभाव को विपरीत माननेरूप मान्यताएँ हैं, उन्हें चेतनागुण नष्ट कर देता है। ''जीव तो चेतनास्वरूप है''—ऐसा प्रकाशित करता हुआ चेतनागुण मिथ्या-मान्यताओं को दूर कर देता है।

### शुद्ध जीव को प्रकाशित करता है

'शुद्ध चेतनामय जीव'—ऐसा जहाँ लक्ष में लिया, वहाँ चेतना अंतर्मुख हुई; समस्त रागादि से भिन्नता होकर उसकी जीव के साथ एकता हुई; इसलिये समस्त रागादि से भिन्न शुद्ध जीव को उस चेतना ने प्रकाशित किया।—इसप्रकार चैतन्य ज्योति में सम्पूर्ण जीव को प्रकाशित करने की शक्ति है।

### शांति प्रदान करने की शक्ति है

राग में शुद्ध आत्मा को दर्शाने की शक्ति नहीं है। शुद्ध आत्मा को दर्शाने की शक्ति चेतना में ही है। आत्मा शरीर का कर्ता है, आत्मा राग का कर्ता है, रागादि से आत्मा को लाभ होता है;—ऐसा मानकर कोई जीव, शरीर की क्रिया में तथा रागादि में शुद्ध आत्मा को ढूँढ़े तो वहाँ उसकी प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु ढूँढ़नेवाले की पर्याय में मिथ्यात्वरूपी क्लेश उत्पन्न होगा। 'जीव चेतनास्वरूप है', ऐसा मानकर चेतना में जीव को ढूँढ़ने से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होगी और विपरीत मान्यतारूप क्लेश शांत हो जायेगा। इसप्रकार चेतना में क्लेश को दूर करके शांति प्रदान करने की शक्ति है।

### उसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है

कैसा है यह चेतनागुण ?—कि रागादि किन्हीं भी परभावों के आधीन नहीं होता किन्तु उसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है। 'शुद्ध आत्मा' उस चेतना का सर्वस्व है।

चेतना के सर्वस्वरूप ऐसा शुद्ध आत्मा भेदज्ञानी जीवों ने स्वसंवेदन द्वारा प्राप्त किया है। अहा! ज्ञानी कहते हैं कि—भेदज्ञान में चेतनागुण ने मुझे सम्पूर्ण आत्मा प्रदान किया.... जहाँ चेतनास्वरूप आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ समस्त विभावों से भिन्न सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा अनुभव में आ गया। चेतना ने अपना सर्वस्व उस भेदज्ञानी को सौंप दिया। सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा भेदज्ञानी जीवों को सौंपा और रागादि समस्त परभावों को आत्मा से बाहर निकाल दिया।—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा अनुभव में आनेवाला शुद्ध चैतन्य जीव ही परमार्थस्वरूप जीव है।

इसलिये, चैतन्य के अतिरिक्त समस्त परभावों को पृथक् करके चैतन्यस्वरूप शुद्ध जीव का अंतर में अभ्यास करो.... उसका साक्षात् अनुभव करो।

**चेतना के स्वसंवेदन में से 'यह मैं... यह मैं' ऐसी ध्वनि उठती है।**

जीव अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण द्वारा सदा अंतर में प्रकाशमान है। अपने वेदन में 'मैं..... मैं' ऐसी जो स्वत्व की ध्वनि उठती है, वह चैतन्य में से उठती है, राग में से वह ध्वनि नहीं आती। ऐसे चैतन्यस्वभाव में स्व-रूप से जीवतत्त्व प्रकाशमान है; किन्तु अज्ञानी को राग ही मैं हूँ—ऐसा अनुभव हो गया है, वह राग में अपनत्व से जीवतत्त्व प्रकाशित नहीं होता, उसमें तो अज्ञान और दु:ख ही प्रकाशमान होता है। राग के वेदन में जीव के स्वभाव का (-सुख का) वेदन नहीं है, इसलिये वह जीव का स्वभाव नहीं है। चैतन्य भाव के वेदन में ही जीव के स्वभाव का वेदन है, इसलिये वही जीव का स्वभाव है। इसप्रकार चेतनागुण द्वारा परमार्थरूप जीव को पहिचानना चाहिये।

**किसी भी सहायता या आधार के बिना ही मोक्षमार्ग को साधने की शक्ति चेतना में है।**

मोक्षमार्ग में राग की कुछ सहायता मिलती है?—थोड़ा-सा आधार तो अवश्य रहता होगा? तो कहते हैं कि अरे भाई! मोक्षमार्ग तो शुद्ध चेतनास्वरूप है और वह चेतना तो राग का नाश करनेवाली है। जो जिसका नाश करनेवाला हो, वह उसकी सहायता कैसे करेगा?—इसलिये मोक्षमार्ग को राग की सहायता या आधार नहीं है। जहाँ राग की भी सहायता या आधार नहीं है, वहाँ शरीर की क्रिया अथवा अन्य परद्रव्यों की सहायता या आधार कहाँ से होगा? सबसे स्वतंत्ररूप से (किसी की) भी सहायता या अधार (बिना) अकेली चेतना में ही मोक्षमार्ग का समावेश होता है। चेतना से बाहर के किसी भी भाव में मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्चारित्र आदि सर्व निर्मल भाव तो चेतना के ही अन्तर्गत हैं, वे चेतना से बाहर नहीं हैं। निर्मल

भावों को अपने में समा देने की तथा विभावों को अपने में से बाहर निकाल देने की शक्ति चेतना में है।

**भेदज्ञानी जीवों को ही चैतन्य स्वरूप प्राप्त करने का अधिकार है।**

चेतनागुण ने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, अर्थात् धर्मात्मा जीव को भेदज्ञान में ऐसा भान हुआ है कि यह ज्ञायक ही मैं हूँ, अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ। इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा धर्मात्मा ने अपना सर्वस्व प्राप्त कर लिया है; इसलिये कहा कि चेतना ने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है। उसने राग को अपना कुछ भी नहीं सौंपा, किन्तु भेदज्ञान को अपना सर्वस्व सौंप दिया है। भेदज्ञानी के स्वसंवेदन में सम्पूर्ण आत्मा आ गया है। चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि पड़ते ही 'यह आनन्दकंद चैतन्य ही मेरा सर्वस्व है' ऐसा धर्मात्मा ने जान लिया है। अंतर में भेदज्ञान के बिना किसी को ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करने का अधिकार भेदज्ञानी को ही है। इस गाथा का भाव अपूर्व है! यह तो त्रिलोकीनाथ भगवान की दिव्यध्वनि है; परम्परा से चले आ रहे आगम की यह बात है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उसकी अद्‌भुत रचना की है.... और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उसके अद्‌भुत गंभीर भावों को स्पष्ट किया है।

**चेतना अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव से तृप्त-तृप्त वर्तती है!**

कैसा है यह चेतनागुण ?—कि अपना सर्वस्व अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा उसने भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है; अर्थात् चेतना लक्षण द्वारा सम्पूर्ण आत्मा, राग से भिन्न लक्षित होता है और वह चेतना अंतर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के स्वसंवेदन से तृप्त-तृप्त वर्तती है। चेतनापर्याय अंतर्मुख हुई, उसकी यह बात है। अंतर्मुख हुई चेतना-परिणति में अभेदरूप से सम्पूर्ण आत्मा आ गया है और आत्मा के साथ अभेदता के कारण आनन्द के अनुभव से वह तृप्त-तृप्त हो गई है... अब वह चेतना निजस्वरूप से किंचित् चलायमान नहीं होती, स्वरूप में ही निश्चल रहती है। उस चेतना का विकास होने पर वह समस्त लोकालोक को एक साथ ग्रस ले, ऐसी उसकी शक्ति है; अर्थात् चेतना अपने केवलज्ञान में तीनकाल-तीनलोक तो एक साथ जाने ले, ऐसी उसकी शक्ति है।

—ऐसी चेतनास्वरूप भगवान आत्मा को जो जान ले, वह जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करके, अपने स्वरूप सुख में ही तृप्त वर्तता हुआ मोक्षदशा प्राप्त करता है; इसलिये हे जीवो! तुम आत्मा में ही उसके अनुभव का अभ्यास करो! *( —समयसार गाथा ४९ के प्रवचनों से )*

# पंच-परमेष्ठी के प्रति बहुमान

[श्री नियमसार गाथा ७१ से ७५ के प्रवचनों से]

धर्मात्मा को अपने चिदानन्दस्वरूप के आदरपूर्वक भगवान पंच-परमेष्ठी के प्रति बहुमान होता है।

साधक को अपना आत्मा स्वानुभव से किंचित् प्रत्यक्ष है और किंचित् परोक्ष है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में तो अपने परमदृष्टि ऐसे चैतन्यस्वभाव को ही नमन करते हैं तथा उसी का आदर करते हैं। उसे जो व्यवहार सम्बन्धी राग है, उसमें भगवान अरिहन्तदेव आदि पंच-परमेष्ठी का बहुमान-विनय होती है। यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव उन पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे स्वयं तीसरे परमेष्ठी पद में वर्त रहे हैं और पंच-परमेष्ठी के बहुमानपूर्वक उनका स्वरूप दर्शाते हैं।

(१) कैसे हैं अरिहंत-परमेष्ठी ?

घनघाति-कर्म विहीन ने चोत्रीश अतिशय युक्त छे,
कैवल्यज्ञानादि परमगुण युक्त श्री अर्हंत छे॥७१॥

पहले अज्ञानदशा में अथवा छद्मस्थदशा में आत्मा अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों द्वारा अपने ज्ञानादि गुणों का घात करता था और उस गुणघात में घातिकर्म निमित्त थे। परन्तु भगवान अरिहंतदेव ने अपने निजानंदस्वरूप में प्रवेश करके समस्त भावकर्मों का नाश करके अपने केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट किये तथा घातिकर्मों का घात किया। इसप्रकार आत्मा को परम इष्टरूप ऐसे चतुष्टय प्रगट करके वे परमेष्ठी हुए।

वे अरिहन्त परमेष्ठी ज्ञानावरणादि चार घनघाति कर्मों से रहित हैं और केवलज्ञानादि चार परम गुणों से युक्त हैं। केवलज्ञानादि चतुष्टय कैसे हैं ?—कि—तीन लोक को प्रक्षोभ के हेतुभूत हैं। अहा! केवलज्ञान की अचिंत्य महिमा तीनों लोक को आश्चर्य प्राप्त करानेवाली है; अथवा तीर्थंकर भगवान को जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब तीन लोक में आनन्दमय खलबली मच जाती है। ऐसे केवलज्ञानमय अरिहन्त परमेष्ठी को पहिचाने बिना व्यवहारचारित्र भी नहीं हो सकता।

केवलज्ञानादि चतुष्टय तो अरिहन्तदेव के परमार्थ अतिशय हैं और व्यवहार से स्वेद रहितपना आदि चौंतीस अतिशय हैं। अरिहन्त देव के केवलज्ञानादि का बहुमान, वह सर्वज्ञ की

व्यवहार-स्तुति है और अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होना, वह सर्वज्ञ की निश्चय स्तुति है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निश्चय स्तुति है, वह सर्वज्ञता का उपाय है।

अरिहन्त भगवान तीर्थंकर देव को जन्म से ही मलमूत्र का अभाव इत्यादि दस अतिशय होते हैं। तत्पश्चात् केवलज्ञान होने पर उन्हें उपसर्ग का अभाव, कवलाहार का अभाव, बीस हजार हाथ ऊपर आकाश में गमन इत्यादि दस अतिशय होते हैं; तथा गंधोदक वृष्टि, धर्मचक्र, अष्टमंगल आदि चौदह अतिशय देवकृत होते हैं।—इसप्रकार कुल चौंतीस अतिशय होते हैं।

ऐसे चौंतीस अतिशयों को न जानता हो और अरिहंतदेव को भी क्रमिक उपयोग-कवल-आहार-मल-रोग आदि बतलाये, वह तो व्यवहार से भी अरिहंत परमेष्ठी को नहीं जानता; इसलिये अरिहंत परमेष्ठी के प्रति सच्ची भक्ति भी उसे नहीं होती। तो फिर उसे चारित्रादि तो कहाँ से होंगे ?

यहाँ तो निश्चयरत्नत्रय की आराधनापूर्वक पंच-परमेष्ठी के गुणों को पहिचानकर उनकी स्तुति करते हैं। पद्मप्रभमुनिराज पद्मप्रभजिनराज की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—आत्मा गुणों के घातक ऐसे घनघाति कर्मों का अरिहंत भगवान ने घात कर डाला है और घातिकर्मों के नाश से वे भगवान केवलज्ञानादि चतुष्टय को प्राप्त हुए हैं। कैसे हैं वे केवलज्ञानादि चतुष्टय ? श्री मुनिराज कहते हैं कि—अहो ! वे केवलज्ञानादि चतुष्टय तीन लोक को प्रक्षोभ के हेतुभूत हैं—तीर्थंकर को केवलज्ञान होने पर तीन लोक में प्रक्षोभ (आनन्दमय खलबली) फैल जाती है। ऐसे केवलज्ञानमय अरिहंत भगवान का जो निर्णय करे, उसके अपने असंख्य आत्मप्रदेशों में भी आनन्द की खलबली होती है।

देखो, इसमें स्तुति करनेवाले और स्तुत्य दोनों परमेष्ठी हैं। मुनि-परमेष्ठी, अरिहंत-परमेष्ठी की स्तुति करते हैं। पाँचवें परमेष्ठी पहले परमेष्ठी की स्तुति करते हैं। एक अरिहंत भगवान दूसरे अरिहंत भगवान आदि की स्तुति नहीं करते, क्योंकि वे तो पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, परन्तु आचार्य, उपाध्याय या साधु—जो अभी साधक हैं, वे अरिहंत आदि पंच-परमेष्ठी की स्तुति करते हैं। यहाँ स्तुतिकार पद्मप्रभमुनिराज, पद्मप्रभभगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि:—

सुसीमा माता के सुपुत्र श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र जयवंत हैं।—कैसे हैं वे जिनेन्द्र ?—प्रख्यात उनका शरीर है; यह बात प्रसिद्ध है कि तीर्थंकर भगवान का शरीर रोगरहित परम औदारिक है; बिना आहार के भी वह हजारों-लाखों वर्ष तक ज्यों का त्यों रहता है। और प्रफुल्लित कमल समान उनके नेत्र हैं; अंतर में तो केवलज्ञान और केवलदर्शन रूपी अतीन्द्रिय चक्षु विकसित हो गये हैं और

शरीर के चक्षु भी अति सुन्दर प्रफुल्लित हैं। सर्वोत्कृष्ट पुण्यरूप जो तीर्थंकर पद, वह उनका निवास स्थान है। पंडित अर्थात् साधक जीवों को विकसित करने के लिये वे भगवान सूर्य समान हैं।—जिसप्रकार सूर्योदय होते ही कमल खिल उठते हैं, उसीप्रकार सर्वज्ञ का निर्णय होने पर साधक जीव के श्रद्धा-ज्ञानकमल विकसित हो जाते हैं। मुनिजनों रूपी वन को विकसित करने के लिये वे बसन्त ऋतु के समान हैं तथा कर्मशत्रु की सेना के लिये वे शत्रु हैं और सर्व जीवों को हितरूप उनका चारित्र है। यद्यपि किन्हीं जीवों का हित करूँ—ऐसी रागवृत्ति का उत्थान भगवान को नहीं है, किन्तु जो जीव भगवान के वीतरागी चारित्र को जानता है, उसका हित अवश्य होता है और इसलिये भगवान का चारित्र उसे हितरूप हुआ—ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार भगवान प्रतीति करके स्तुतिकार कहते हैं कि—ऐसे पद्मप्रभ तीर्थंकर जयवंत हैं।

पद्मप्रभमुनिराज ने पाँच श्लोकों द्वारा पद्मप्रभ परमेष्ठी की स्तुति की है। दूसरे श्लोक में वे कहते हैं कि हे नाथ! सर्व गुणों का समूह आप में एकत्रित हुआ है, इसलिये आप सर्व गुणों के समाज हो; कामदेव रूपी हाथी को नष्ट करने के लिये आप सिंह समान हैं। आपने दुष्ट कर्मों को नष्ट किया है और समस्त विभावरूपी संसार का त्याग कर दिया है। और हे नाथ! आप सर्व विद्याओं के प्रकाशक हैं, आपका आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हो गया है; विद्वानों का समूह आपके चरणों में झुक जाता है। मूर्ख जीव भगवान को न जानें और नमन न करें तो उनकी कोई गिनती नहीं है; किन्तु जो विद्वान हैं, भेदज्ञानी हैं, धर्मात्मा हैं, वे भगवान को पहिचान कर उनके चरणों में झुक जाते हैं।

हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आपका मोक्ष प्रसिद्ध है; आपका केवलज्ञान और मुक्ति हमारे ज्ञान में प्रसिद्ध हो गये हैं। तत्त्वविज्ञान में आप दक्ष हैं—चतुर हैं, तथा बुधजनों को आपने मोक्ष की सीख दी है.... आपकी सीख—आपका उपदेश मोक्ष के लिये ही है; हम जैसे मुनि भी आपके चरणों में नमन करते हैं और आपके द्वारा उपदेशित स्वाश्रयी मोक्षमार्ग का अनुसरण करके मोक्ष की साधना करते हैं; इसलिये आप मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मों को छेदनेवाले तथा विश्व के ज्ञाता हैं। इसप्रकार अरिहंत भगवान की प्रतीति करके उनकी स्तुति की।—अरिहंत भगवान जगत में जयवंत हैं—सदाकाल विराजमान हैं।

इसप्रकार अरिहंत परमेष्ठी का स्वरूप बतलाया; अब सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बतलाते हैं:—

(२) कैसे हैं सिद्ध परमेष्ठी ?

छे अष्ट कर्म विनष्ट, अष्ट महागुणे संयुक्त छे;
शाश्वत, परम ने लोक-अग्र विराजमान श्री सिद्ध छे॥७२॥

यह बात तो मोक्षमार्ग की है। अंतर के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जो मोक्षमार्ग साध रहा है, उसे साधकपने में समिति, गुप्ति आदि व्यवहार चारित्र कैसा होता है उसका यह वर्णन है। उस व्यवहार चारित्र में भगवान पंच-परमेष्ठी के प्रति बहुमान का भाव होता है; इसलिये यहाँ पाँच गाथाओं में पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन किया है।

सिद्ध भगवान मोहादि आठों कर्मों से रहित और सम्यक्त्वादि महागुणों से युक्त हैं; वे सिद्ध भगवान लोक के शिखर पर विराजमान हैं; वे परम उत्कृष्ट तथा नित्य हैं।

अब, टीकाकार कहते हैं कि—अहो! ऐसे भगवंत सिद्ध परमेष्ठी सिद्धि के परम्परा हेतुभूत हैं। सिद्धि का परम्परा-हेतु किसे ?—कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को। जिसने अंतशः साक्षात् कारण प्रगट किया हो, उसी के लिये दूसरे में परम्परा हेतु का आरोप आ सकता है। जिसे सिद्धपद के सच्चे हेतु की ही खबर नहीं है और विपरीत हेतु मानता है, उसके लिये तो कोई परम्पराहेतु भी नहीं कहलाता और वह सिद्ध भगवान को भी नहीं जानता। जो सिद्ध भगवान को सचमुच जानता है, वह तो स्वसन्मुख होता है और स्वसन्मुख होकर मोक्षमार्ग प्रगट करने पर उसके लिये सिद्धभगवान भी परम्परा मोक्ष के हेतु हुए। जो सिद्धभगवान को पहिचानता ही नहीं है, उसे तो साक्षात् या परम्परा एक भी प्रकार से सिद्धि का मार्ग प्रगट ही नहीं हुआ है; और जो यथार्थरूप से सिद्ध भगवान को जानता है, उसे अन्तरोन्मुखता होकर सिद्धि का मार्ग प्रगट हुए बिना नहीं रहता, तथा उसमें उसे सिद्ध भगवान निमित्त हैं। निमित्तरूप होने पर भी वे सिद्धभगवान क्या कुछ करते हैं ?—नहीं; अपने भाव से ही मोक्षमार्गरूप परिणमित होनेवाले जीवों को वे मात्र निमित्त हैं।

सिद्धभगवान का आत्मा भी पहले संसारदशा में अष्ट कर्मसहित था; फिर अष्ट कर्मों को नष्ट करके वे सिद्ध परमात्मा हुए। उन्होंने अष्ट कर्म का नाश किसप्रकार किया ?—तो कहते हैं कि—निरवशेष रूप से अंतर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्प रहित निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से उन्होंने अष्ट कर्म का नाश किया। देखो, इसमें सिद्ध भगवान की पहिचान कराते हुए साथ ही साथ उस सिद्धपद का उपाय भी बतलाते हैं। सिद्धपद का उपाय कोई रागादि बहिर्मुखभाव नहीं है

किन्तु सम्पूर्णतया अंतर्मुख ऐसा परम शुक्लध्यान ही सिद्धपद का उपाय है। सहज चिदानन्दस्वरूप में अंतर्मुख होकर उसका निर्विकल्प ध्यान ही सिद्धपद का उपाय है। ऐसे उपाय से उन सिद्धभगवन्तों ने अष्ट कर्मों को नष्ट किया है।

अष्ट कर्मों को नष्ट करके उन्होंने क्या प्राप्त किया है?—कि वे सिद्धभगवंत क्षायिक सम्यक्त्व आदि अष्ट महागुणों से संयुक्त हैं; आठ महागुणों से वे संतुष्ट हैं—तृप्त हैं—सुखी हैं। जो गुण शक्तिरूप से थे, वे उनके पर्यायरूप से व्यक्त हो गये हैं.... अनंत गुणों की शक्ति से चैतन्य कमल परिपूर्ण विकसित हो गया है.... चैतन्यशक्ति का पूर्ण विकास हो गया है। बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—ऐसे जो तीन प्रकार के आत्मा हैं, उनमें सिद्ध भगवन्त परमात्मा हैं। परम आत्मा अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा; उनके उत्कृष्ट गुणों का विकास हो गया है, इसलिये वे परमात्मा हैं। वे कहाँ रहते हैं? भाव से तो अपने अनंत गुण-समूह में रहते हैं और आकाशक्षेत्र की अपेक्षा वे लोक के उत्कृष्ट स्थान में (लोकाग्र में) विराजमान हैं। सिद्धभगवान लोक में सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका स्थान भी लोक में सर्वोच्च है। उन्होंने अभूतपूर्व ऐसी सिद्धदशा को प्राप्त किया सो किया.... अब अनंतकाल में भी वे उससे च्युत होकर संसार में नहीं आयेंगे.... सदा सिद्धरूप से ही रहेंगे। जो अरिहंत होते हैं, वे सदा अरिहंत रूप से नहीं रहते, अल्पकाल में सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु सिद्ध तो सदैव सिद्धरूप से ही रहते हैं।

जिसप्रकार जिनमन्दिर के उच्च शिखर में जड़ा हुआ सुन्दर मणि शोभायमान हो उठता है; उसीप्रकार सिद्ध भगवंत इस तीन लोकरूपी मन्दिर के शिखर पर चूड़ामणि के समान सुशोभित हो रहे हैं। सिद्ध भगवान व्यवहार से ही लोकाग्र में हैं, निश्चय से तो वे परमदेव अपने सहज परम चैतन्य चिन्तामणिस्वरूप नित्य शुद्ध निजरूप में ही वास करते हैं। वे भगवान सर्व दोषों को नष्ट करके देहमुक्त अशरीरी परमात्मा हुए हैं; अकेला असंख्यप्रदेशी चैतन्य पिण्ड ज्ञान-दर्शन से युक्त है।—ऐसे सिद्ध भगवंत जगत में अनंत हैं। जगत में मनुष्य की अपेक्षा सिद्ध भगवंत अनंतगुने हैं। तीन लोक में उत्तम हो तो सिद्धपद ही है, उससे उत्तम अन्य कुछ नहीं है। श्री मुनिराज कहते हैं कि अहा! ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति के हेतु मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूँ 'णमो सिद्धाणं'—निज स्वरूप में स्थित ऐसे उन सिद्ध भगवंतों को मैं पुनः पुनः वंदन करता हूँ।

—इसप्रकार सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप पहिचानकर उनकी स्तुति की। शेष तीन परमेष्ठियों का स्वरूप आगे कहेंगे।

# भरत के भाईयों का वैराग्य

आदिनाथ भगवान के पुत्र भरतराज को एक साथ तीन-तीन बधाइयाँ आईं..... सर्व प्रथम केवलज्ञान-प्राप्त आदिनाथ प्रभु की पूजा करके वे छह खण्ड की दिग्विजय करने के लिये निकल पड़े... और साठ हजार वर्ष में दिग्विजय करके लौटते समय कैलाश पर्वत पर जाकर भगवान आदिनाथस्वामी के दर्शन किये। तत्सम्बन्धी विस्तृत वर्णन 'आत्मधर्म' अंक १८४ में आ गया है। कैलास-यात्रा के बाद अब भरत चक्रवर्ती अयोध्या नगरी की ओर लौट रहे हैं.... अयोध्या के निकट आने पर क्या होता है ?—वह जानने के लिये यह लेख पढ़िये।

भगवान श्री आदिनाथस्वामी के दर्शन करके धर्मात्मा भरत चक्रवर्ती कैलाश पर्वत से नीचे उतरे और अयोध्यानगरी की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या के समीप आने पर नगर में प्रवेश करते समय उनका चक्र अचानक ही अटक गया, वह नगर में प्रवेश नहीं कर सका। चक्र अटक जाने से सारी सेना में आश्चर्य फैल गया। चक्राधिपति भरत भी आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे कि—अरे, यह क्या! चक्र क्यों अटक गया ? समस्त भरतक्षेत्र की सर्व दिशाओं में जिसने बिना रोक-टोक के आक्रमण किया, ऐसा यह चक्र मेरी अयोध्यानगरी के द्वार पर ही क्यों अटका ? मेरे ही घर के आँगन में वह क्यों प्रवेश नहीं करता ? भरतराज ने जब निमित्तज्ञानी पुरोहित से चक्र के अटकने का कारण पूछा, तब पुराहित ने कहा—'हे स्वामी! घर आँगन में चक्र का अटक जाना ऐसा सूचित करता है कि अभी अपनी दिग्विजय अधूरी है; अपने ही घर में कोई जीतने योग्य शेष रह गया है... और वे हैं आपके भाई! उन्होंने अभी आपका अधिपत्य स्वीकार नहीं किया है। आपके ९९ भ्राता महाबलवान हैं; उनमें भी अत्यन्त युवा तथा धीर, वीर, बलवान बाहुबलि मुख्य हैं। आपके उन भ्राताओं ने ऐसा निश्चय किया है कि—हम भगवान आदिनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करेंगे। इसलिये हे चक्रधर! इसका तुम्हें कोई उपाय करना चाहिये। या तो वे यहाँ आकर आपको नमस्कार करें, या फिर जगत की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेव की शरण में जायें;—इसके अलावा उनके लिये तीसरी कोई गति नहीं है। उनके लिये दो ही गतियाँ हैं—या तो आपके शिविर में प्रवेश करें या फिर मृगों की भाँति वन में चले जायें (अर्थात् मुनि होकर वन में विचरें।)

पुरोहित की बात सुनकर भरत महाराज क्षणभर क्रोधित होकर कठोर वचन कहने

लगे—अरे, खेद है कि वे भाई मुझे प्रणाम नहीं करना चाहते! वे लोग अकारण ही शत्रुता मोल ले रहे हैं; उनके मन में ऐसा है कि—हम सब एक ही कुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये अबध्य हैं; (क्योंकि चक्ररत्न द्वारा सगोत्र-वध नहीं होता।) ठीक है... उन्हें यौवन का उन्माद तथा योद्धापने का अहंकार है, तो मैं उसका इलाज करूँगा। वे लोग पिताजी की दी हुई धरती का उपभोग राजस्व दिये बिना ही करना चाहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। कहाँ छहखण्ड-विजेता मैं, और कहाँ मेरे उपभोग्य-क्षेत्र में रहनेवाले वे लोग? तथापि यदि वे मेरी आज्ञानुसार रहें तो इस राज्य में उनका भी भाग हो सकता है। अहा! महान खेद की बात है कि अत्यन्त बुद्धिमान, भ्रातृप्रेम रखनेवाला और कार्यकुशल ऐसा बाहुबलि भी मेरे प्रति विकृति रख रहा है!! बाहुबलि को छोड़कर अन्य समस्त राजपुत्र कदाचित् नमस्कार करें तो भी उससे मुझे क्या लाभ? पोदनपुर के बिना यह सारा राजपाट मेरे किसी काम का नहीं! पराक्रम से सुशोभित बाहुबलि यदि मेरे वश में न हो, तो इन सब सेवकों और योद्धाओं से मुझे क्या प्रयोजन?

जब क्रोधाविष्ट भरतराज इसप्रकार बोलने लगे, तब पुरोहित ने उन्हें शांत करते हुए कहा कि—"हे देव! 'जीतने योग्य सबको मैंने जीत लिया है'—ऐसी घोषणा के पश्चात् आप क्रोध के वेग से क्यों पराजित हो गये? जितेन्द्रिय पुरुषों को सर्व प्रथम क्रोध पर विजय प्राप्त करना चाहिये। आपके भ्राता तो अभी बालक हैं, इसलिये बालस्वभाव के कारण वे कोई अनुचित बर्ताव करें, तब भी आपको क्रोध नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य क्रोधरूपी अंधकार में डूबे हुए अपने आत्मा का उद्धार नहीं करता, वह अपने कार्य की सिद्धि में सदा सशंकित रहता है। जो राजा अपने अंतरंग के उत्पन्न होनेवाले क्रोधादि शत्रुओं को नहीं जीत सकता तथा अपने आत्मा को नहीं जानता, वह कार्य-अकार्य को कहाँ से जान सकेगा? इसलिये हे देव! यदि आप विजय चाहते हों तो इस क्रोध शत्रु से दूर रहो, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष केवल क्षमा द्वारा ही पृथ्वी को वश कर लेता है। अतीन्द्रिय आत्मा के ज्ञान द्वारा जिसने इन्द्रिय समूह को जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदा का जिसने भलीभाँति श्रवण किया है, तथा जो परलोक को जीतने की इच्छा रखता है—ऐसे पुरुषों के लिये सबसे उत्तम साधन क्षमा ही है। स्वामी! जो कार्य एक पत्र द्वारा हो सकता है, उसके लिये इतना अधिक परिश्रम किसलिये करना चाहते हैं? इसलिये आप शांत होइये और दूतों को भेजकर भेंट सहित सन्देश भेजिये। वे जाकर आपके भ्राताओं से कहें कि—'चलो, अपने ज्येष्ठ भ्राता की सेवा करो; आपके ज्येष्ठ भ्राता पितातुल्य हैं, चक्रवर्ती हैं तथा समस्त प्रजा द्वारा पूज्य हैं।"

इसप्रकार पुरोहित के वचन सुनकर चक्रवर्ती का क्रोध शांत हुआ... ठीक ही कहा है कि महापुरुषों के चित्त की वृत्ति अनुकूल वचन कहने से सुधर जाती है। 'प्रयत्न से भी जिसे वश में नहीं किया जा सकता—ऐसे बाहुबलि की बात इस समय जाने दो, पहले तो अन्य सब भाईयों के हृदय की परीक्षा कर लूँ'—ऐसा सोचकर चक्रवर्ती ने चतुर दूतों को अपने भाईयों के पास भेजा और उन्होंने जाकर चक्रवर्ती का सन्देश सुनाया।

दूत के वचन सुनकर उन भाईयों ने कहा कि—'आदिराजा भरत कहते हैं, वह यद्यपि ठीक है, क्योंकि पिता की अनुपस्थिति में ज्येष्ठ भ्राता ही लघु भ्राताओं द्वारा पितातुल्य पूज्य होते हैं; किन्तु सम्पूर्ण जगत को जानने-देखनेवाले हमारे पूज्य पिता (भगवान ऋषभदेव) प्रत्यक्ष विराजमान हैं, वे ही हमारे पूज्य गुरु हैं तथा वे ही हमारे लिये प्रमाण हैं; यह सब वैभव उन्हीं ने हमें प्रदान किया है, इसलिये इस सम्बन्ध में हम उन्हीं के चरण कमल के आधीन हैं। इस जगत में न तो हमें भरतेश्वर से कुछ लेना है और न कुछ देना है।'—इसप्रकार उत्तर देकर उन्होंने दूतों को विदा किया।

तत्पश्चात् वे राजकुमार इस कार्य निर्णय करने के लिये पिताजी के निकट पहुँचे.... कैलाशपर्वत पर विराजमान जगत पिता भगवान ऋषभदेव के दर्शन किये और पूजनादि विधि के बाद कहा कि हे देव! आपसे ही हमने जन्म धारण किया है और आपके ही द्वारा हमें यह उत्कृष्ट विभूति प्राप्त हुई है; तथा अब भी हम आपकी ही कृपा चाहते हैं, आपके अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना हम नहीं करना चाहते। 'यह गुरुजनों का प्रसाद है अथवा यह पिताजी का प्रसाद है'—ऐसा इस जगत के लोग उपचार से कहते हैं; किन्तु हम तो आपके ही प्रसाद से उसका अनुभव कर चुके हैं। आपको प्रणाम करने में तत्पर, आपकी प्रसन्नता चाहनेवाले तथा आपके वचनों के किंकर ऐसे हमारा चाहे जो हो; परन्तु हम किसी दूसरे की उपासना करना नहीं चाहते। तथापि भरत हमें प्रणाम करने के लिये बुला रहे हैं; तो इसमें उनका मद ही कारण है अथवा अन्य कुछ ?—यह हम नहीं जान पाते। हे देव! हमारा मस्तक सदा आपको ही भक्तिपूर्वक प्रणाम करने का अभ्यासी रहा है, वह अब किसी अन्य को प्रणाम करने में नहीं मानता।—क्या मानसरोवर में रहनेवाला हंस कभी गड्ढे का सेवन करेगा ? आकाशगत स्वच्छ जल पीनेवाला चातक प्यास होने पर भी क्या सूखे सरोवर का मलिन जल पियेगा ?—नहीं; उसीप्रकार आपके चरण कमल के पराग से जिनका मस्तक रंजित है ऐसे हम, आपसे भिन्न (आप्त को छोड़कर) अन्य किसी को प्रणाम करने में समर्थ नहीं हैं। ऋषभदेव भगवान के पुत्र कहते हैं कि—हे स्वामी! जिसमें किसी अन्य को

प्रणाम नहीं करना पड़ता, तथा जो भय से रहित है—ऐसी वीर दीक्षा—जिनदीक्षा लेने के लिए हम आपके निकट आये हैं। इसलिये हे देव! जो मार्ग हमारे लिये हितकर एवं सुखदायी हो, वह बतलाइये। ताकि इहलोक और परलोक में भी हमारी वासना आपकी भक्ति में अत्यन्त दृढ़ हो जाये। हे नाथ! जिसप्रकार मान भंग के भय से रहित योगी निर्भय होकर वन में सिंहों के साथ विचरते हैं, उसीप्रकार हम भी विचरें और आपका महान पद हमें प्राप्त हो, ऐसा मार्ग बतलाइये। —ऐसा कहकर सभी राजकुमार भगवान आदिनाथ के सन्मुख हाथ जोड़कर खड़े रहे। और फिर—

भगवान ऋषभेदव की पावन दिव्यध्वनि में उन राजकुमारों को मोक्षमार्ग में स्थित करनेवाला पवित्र धर्मोपदेश प्रवाहित होने लगा कि—हे पुत्रों! उत्तम शरीर तथा उत्तम गुणों को धारण करनेवाले ऐसे तुम, अन्य के सेवक कैसे बन सकते हो? इस चंचल राजलक्ष्मी और क्षणभंगुर जीवन से क्या साध्य है? इस ऐश्वर्य तथा सैन्यादिक का तुम्हें क्या काम है? ईंधन समान सम्पत्ति और विष समान विषयों से क्या प्रयोजन है? हे पुत्रों! क्या ऐसा कोई विषय शेष है जिसका तुमने कभी आस्वादन न किया हो?—इन सबका उपभोग तो तुमने अनेकों बार कर लिया है; इनसे कभी तृप्ति नहीं होगी। शास्त्रास्त्र तो जिसमें मित्र हैं और पुत्रादि जिसमें शत्रु हो जाते हैं, तथा सर्वभोग्या वसुन्धरा जिसमें स्त्री है—ऐसे राज्य को धिक्कार है! जब तक पुण्य का उदय है, तब तक राजश्रेष्ठ भरत इस भरतक्षेत्र का राज्य करेंगे और अंत में तो वे भी इस विनश्वर राज्य को छोड़ देंगे... इसलिये ऐसे अस्थिर राज्य के लिये क्लेश करना व्यर्थ है। तुम तो धर्म रूपी महावृक्ष के उन रत्नत्रयरूपी पुष्पों को धारण करो कि जो कभी कुम्हलाते नहीं हैं और जिन पर मोक्षरूपी महाफल लगते हैं। जो दूसरों की आराधनारूपी दीनता से रहित हैं, तथा अन्य पुरुषों द्वारा जिसकी आराधना की जाती है—ऐसी यह मुनिदशा ही तुम जैसे उत्तम पुरुषों के मान की रक्षा करनेवाली है। जिसमें दीक्षा ही रक्षा है, गुण ही सेवक हैं और शुद्धपरिणतिरूप प्राण प्यारी स्त्री है—ऐसा सर्व प्रशंसनीय सामग्रीवाला तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है। इसलिये हे पुत्रों! दूसरे राज्य का मोह छोड़कर तुम इस तपरूपी राज्य को ही धारण करो!

भगवान के ऐसे वचन सुनकर वे राजकुमार परम वैराग्य को प्राप्त हुए और साक्षात् भगवान ऋषभदेव द्वारा महादीक्षा धारण करके मुनि हुए.... नूतन दीक्षा से वे मुनिवर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। शुद्धनय द्वारा समीप आई हुई उस दीक्षारूपी सखी को प्राप्त करके उन राजकुमारों के

अंत:करण में सुख का अनुभव हुआ। तत्पश्चात् वे राजर्षि जिनकल्प नामक सामायिक चारित्र में स्थिर हुए.... उनके ज्ञान की विशुद्धता बढ़ने लगी वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त उन तरुण राजर्षियों ने राजलक्ष्मी को छोड़कर तपलक्ष्मी को वश में कर लिया.... मोक्षलक्ष्मी के ध्यान में लीन होकर वे राजलक्ष्मी को बिलकुल भूल गये.... उत्कृष्ट तपोभावना पूर्वक उन्होंने बारह अंग का अध्ययन किया.... परम संवेग को प्राप्त वे मुनिराज जैन शास्त्रों में उत्कृष्ट भक्ति रखते थे.... और समस्त श्रुतज्ञान का रहस्य उन्होंने जान लिया था—अर्थात् वे श्रुतकेवली हो गये थे।

श्रुतज्ञान ही उनके नेत्र थे.... ग्रीष्म ऋतु में वे पर्वत के शिखर पर ध्यानारूढ़ होते थे.... तो वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान में रात्रि व्यतीत करते थे.... जब मूसलाधार वर्षा होती थी, तब ध्यानरूपी गुफा में धैर्यरूपी ओढ़ना ओढ़कर वे महामुनिवर स्थिर रहते थे... बाह्य में जब भीषण वर्षा होती थी तब उनके अंतर में—असंख्य चैतन्य प्रदेशों में आनन्द की वृष्टि होती थी.... शीत ऋतु में वे नग्न मुनिवर मौन धारण करके खुले आकाश के नीचे निवास करते हुए अव्यग्ररूप से मोक्षमार्ग में दृढ़ रहते थे। संसार से विरक्त हुए वे मुनिवर, मोक्ष के कारणभूत जिनेन्द्र-मार्ग में—रत्नत्रयमार्ग में परम संतुष्ट थे.... वे मोक्षाभिलाषी मुनिवर मोक्ष के लिये कटिबद्ध हो गये थे और उसी का उद्यम करते थे।

ममत्वरहित, परिग्रहरहित तथा शरीररूपी ईंधन का मोह जिन्होंने छोड़ दिया है—ऐसे वे मुनिवर, जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए मोक्षमार्ग की आराधना करते थे। बाल की नोंक जितना परिग्रह भी वे नहीं रखना चाहते थे। हिंसक प्राणियों से भरे हुए वन में वे निर्भय विचरते थे और पर्वत की गुफा में चैतन्य का ध्यान करते थे। स्वाध्याय तथा ध्यान में आसक्त वे मुनिवर रात्रि में भी शयन नहीं करते थे.... तत्त्व चिंतन में तत्पर रहकर सदा जागते थे। सर्वत्र निरपेक्ष तथा निष्कांक्ष ऐसे वे दयालु मुनिवर पृथ्वी पर विचरते हुए समस्त प्राणियों को पुत्र तुल्य मानते थे और उनके साथ माता तुल्य व्यवहार करते थे। वे रत्नत्रय की शुद्धि के लिये उद्यमी थे..... उन परम शांत मुनिवरों का हृदय दीनता से रहित तथा परम उपेक्षायुक्त था। वे सदा जिनेन्द्राज्ञा के अनुसार चलते थे... उनका हृदय संसार से उदासीन था। गर्भवास, वृद्धावस्था या मृत्यु उनसे सदा भयभीत रहते थे.... पुन: किसी अन्य माता के गर्भ में न आना पड़े, उसके लिये वे सतत उद्यमशील थे... श्रुतज्ञाननेत्र द्वारा परमार्थ को भलीभाँति जाननेवाले वे चतुर मुनिवर ज्ञानदीपिका द्वारा अविनाशी परमात्म-पद का साक्षात्कार करते थे। प्राण चले जायें तथापि वे मुनिवर निषिद्ध (अशुद्ध या उद्दिष्ट) आहार लेने की

इच्छा नहीं करते थे, वे तो मात्र प्राणधारण के हेतु ही शुद्ध आहार लेते थे और धर्मसाधन के हेतु प्राण धारण करते थे। आहार मिले या न मिले, स्तुति या निन्दा, सुख या दु:ख, मान या अपमान—इन सबको वे समानरूप से देखते थे..... विविध तप के कारण उन मुनियों के शरीर में यद्यपि शिथिलता आ गई थे; तथापि उनकी समीचीन ध्यान की सिद्धि की प्रतिज्ञा शिथिल नहीं हुई थी; वे तो परीषहों द्वारा पराजित नहीं हुए, किन्तु परीषह ही उनसे हार गये थे। उनके उपवासादि समस्त बाह्य साधन मात्र आत्मशुद्धि के लिये ही थे, वे ध्यान की उत्कृष्ट विशुद्धता धारण करते थे और योग के प्रभाव से उन्हें अनेक महान ऋद्धियाँ प्रगट हुई थीं। ध्यान द्वारा प्रज्वलित तपाग्नि में वे अष्टविध कर्मों की आहुति दे रहे थे।

—इसप्रकार वे ऋषभनन्दन मुनिवर मुनिपने की उत्कृष्ट प्रतिज्ञा का भलीभाँति पालन कर रहे थे—यह ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषों का ऐसा स्वभाव ही होता है। भगवान ऋषभदेव के वे पुत्र हमारा कल्याण करें—कि जो पुराण पुरुष आदिनाथ के निकट से रत्नत्रय की प्राप्ति करके उनके तीर्थरूपी सरोवर के प्रिय राजहंस हुए थे; भरतराज को नमस्कार न करने की इच्छा से राज्यमोह छोड़कर जो दीक्षित हुए थे; 'त्रस और स्थावर समस्त जीवों के गुरु और इन्द्रों द्वारा पूज्य ऐसे भगवान ऋषभदेव को नमस्कार करने के पश्चात् अब हम अन्य किसी को प्रणाम नहीं करेंगे'—ऐसे विचार से जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की और तपविभूति द्वारा मोक्ष भावना प्रगट की, तथा जिनेन्द्र भगवान की सेवा करने में जो सबसे मुख्य थे, ऐसे भगवान ऋषभदेव के पुत्र हम सबका कल्याण करें! भरत चक्रवर्ती जिन्हें अपने दूतों द्वारा न झुका सके और जिन्होंने निर्वाण-साम्राज्य की प्राप्ति के लिये अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेव का आश्रय लिया, वे मुनिवर हम सबके पापों का नाश करें।

तत्पश्चात् वे मुनिवर चैतन्यध्यान में लीनता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करते हैं और उसी भव में मोक्षसाम्राज्य प्राप्त करते हैं.... उन्हें हमारा नमस्कार हो!

—इसप्रकार बाहुबलि के अतिरिक्त अन्य भाइयों ने तो जिनेन्द्रदेव की शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और उनका प्रश्न हल हो गया। अब बाहुबलि का प्रश्न हल करने के लिये भरत क्या करते हैं..... और उसका अन्तिम परिणाम क्या आता है ?—उसे अब देखेंगे।

*( —'महापुराण' के आधार पर )*

# वह बात जिससे आत्मा की फतह होती है

[वैशाख शुक्ला द्वितीया के दिन फतेहपुर में—पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

**देखो भाई, जगत में सबकुछ सुलभ है, किन्तु चैतन्यतत्त्व की कथा अति दुर्लभ है। अंतर में चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे हो.... वही करने योग्य है.... और उसी में जीवन की सफलता है। भाई, एकबार चैतन्य की बात लक्ष में लेकर रुचिपूर्वक स्वीकार कर.... तो जरूर तेरी फतह होगी.... तुझे मोक्षपद प्राप्त होगा।**

सर्वज्ञदेव की वाणी हो या साधक संतों की वाणी हो, उनका कथन एक ही प्रकार का सम्यक् होता है; उनकी सम्यक् श्रद्धा एक समान है। सर्वज्ञ परमात्मा हों, चारित्रधारी संत मुनि हों या अविरति सम्यग्दृष्टि हों—उनकी श्रद्धा और प्ररूपणा समान ही होती है, उसमें अंतर नहीं होता। स्वरूप स्थिरतारूप आचरण में हीनाधिकता भले हो, किन्तु प्ररूपणा में परस्पर विरोध नहीं होता।

आत्मस्वरूप की प्रतीति करके उसकी साधना करते-करते जब स्वरूपस्थिरता प्रगटे और मुनिदशा हो, तब बाह्य में भी वस्त्रादि परिग्रह रहित हो जाते हैं—ऐसे वनवासी दिगम्बर मुनिराज पद्मनन्दिदेव ने आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते इस शास्त्र की रचना की है। सर्वज्ञदेव के अनुसार उनकी प्ररूपणा होती है। सम्यग्दृष्टि भी श्रद्धा में तो सर्वज्ञ जैसे ही हैं। सर्वज्ञदेव और अव्रती सम्यग्दृष्टि की सम्यक्श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि ?

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित,
साचे साचे वैन कहें साचे जैनमति हैं
काहू के विरोधी नांही परजायबुद्धि नांहीं,
आतमगवेषी, न गृहस्थ हैं न यती हैं।
सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा,
अंतर की लक्ष्मी सों अजाची लक्षपती हैं;
दास भगवंत के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।

*( कविवर बनारसीदासजी )*

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की दशा! सम्यग्दृष्टि को बाह्य की चिन्ता नहीं होती; वे जगत से उदास हैं; चैतन्यस्वभाव की ही उन्हें प्रीति है, परमात्मपद की लगन लगी है। अंतर की चैतन्य सम्पदा के अनुभवपूर्वक वे चैतन्यलक्ष्मी के नाथ बन गये हैं, उन्हें जगत से कुछ भी नहीं चाहिये। वे जगत से उदास और जिनेश्वरदेव के दास हैं अर्थात् भगवान के कहे हुए मार्ग की आराधना में तत्पर हैं।

यहाँ पद्मनन्दि पंचविंशतिका के निश्चय पंचाशत अधिकार में (५२वीं गाथा में) आचार्यदेव ने कहा है कि—मुनिवरों के हृदय में जिस चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति होने से विकल्प नष्ट हो जाते हैं—उस चैतन्यतत्त्व को नमस्कार करो! राग की ओर न झुको, विकल्प की ओर न झुको। यही विकल्पों को जीतकर फतह पाने की रीति है। यहाँ मुनि की मुख्यतापूर्वक सम्बोधन किया है, किन्तु निचली दशा में सम्यक्त्वी को भी यही बात लागू होती है। विकल्पों से पार होकर जब चैतन्यतत्त्व का अनुभव करे, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दृष्टि को अंतर में कैसे आत्मा का अनुभव होता है, वह इस ५३वीं गाथा में बतलाते हैं—

बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः॥५३॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा बँधा हुआ है या मुक्त है—यह सब नयविचार की विधि है, अर्थात् विकल्प की रीति है; उन विकल्पों में शुद्धात्मा का अनुभव नहीं है। उन समस्त नयपक्षरूप विकल्पों से रहित हो तभी साक्षात् समयसार होता है, तभी शुद्धात्मा का अनुभव होता है। सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता है।

देखो भाई, जगत में अन्य सब कुछ सुलभ है; परन्तु इस चैतन्यतत्त्व के अनुभव की कथा अति दुर्लभ है। अंतर में चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे हो... वही करने योग्य है। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ—यह तीनों तीर्थंकर पहले चक्रवर्ती थे; जब से जन्म लिया तभी से वे तीनों आत्मज्ञान के उपरान्त तीन ज्ञान सहित थे; इन्द्रों ने उनका जन्माभिषेक किया था और हजार नेत्रों से उनका दिव्यरूप देखने पर भी वे इन्द्र तृप्त नहीं हुए थे। किन्तु जब से जन्म लिया तभी से उनके अंतर में भान था कि—हम शुद्ध चैतन्यरूप हैं, इस शरीर का जो दिव्यरूप है, वह हम नहीं हैं, इन्द्रों द्वारा नमन किये जाने से हमारे आत्मा की महत्ता नहीं है। ऐसे आत्मा को जो जानता है, उसने भगवान को पहिचाना है और वही भगवान का सच्चा भक्त कहलाता है। प्रभो! आपने आत्मा

का सच्चा स्वभाव जाने बिना जगत में कोई तुझे शरणरूप, मंगलरूप या उत्तमरूप नहीं है। कैसा है आत्मा ?

सर्व नयपक्ष से रहित है; देहादि से भिन्न है और बाह्य पदार्थों सम्बन्धी स्थूल राग-द्वेष से भी पृथक् है; तथा अंतर में 'मैं ज्ञान हूँ' इत्यादि जो सूक्ष्म विकल्प हैं, उनके सम्बन्ध से आत्मा को जानना चाहे तो वह जानने में नहीं आता। उन विकल्पों से पार होकर जब ज्ञान को आत्मोन्मुख करे, तब आत्मा की यथार्थ प्रतीति होती है।

अरे जीव! यह मनुष्य शरीर तो मिट्टी का पुतला है.... वह क्षणभर में बिखर जायेगा..... संयोग अनित्य हैं; एक चिदानन्दस्वभाव ही आत्मा के लिये ध्रुव है, वही शरण है। आत्मा को किसी भी पदार्थ का संयोग नित्य नहीं है, इसलिये वह शरणरूप नहीं है। समवसरण अनित्य, पर्वतों तथा प्रतिमाओं का संयोग अनित्य तथा यात्रादि के राग की वृत्तियों भी अनित्य हैं; एक असंयोगी चिदानन्दतत्त्व ही सदा अचल ध्रुव रहनेवाला है, उसका कभी वियोग नहीं है, वही शरणभूत है; धर्मात्मा को उसी का अवलम्बन है।

धर्मी जानता है कि मेरे शुद्धस्वभाव की सम्पदा कर्म से रहित है, मेरी चैतन्यसम्पदा कर्मों से नहीं बँधी है। मैं बँधा हूँ, अथवा मैं मुक्त होऊँ—ऐसी वृत्तियाँ चैतन्यस्वरूप से बाहर हैं। चैतन्य-स्वरूप को ग्रहण करने पर 'मैं बंधनयुक्त हूँ या मुक्त हूँ'—ऐसी रागवृत्ति का कर्तृत्व नहीं रहता और रागरहित चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति-अनुभव होता है, वह मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

यह सम्यग्दर्शन की बात है। सम्यग्दर्शन की यह भूमिका भी अचिंत्य-अलौकिक-अपूर्व है। चैतन्यतत्त्वोन्मुख होने से रागवृत्ति का कर्तृत्व नहीं रहता; वीतरागी आनन्द का अंशतः वेदन होता है। ऐसी भूमिका के बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। जिसप्रकार, लड्डू बनाने की रीति से ही लड्डू बनते हैं; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रथम सम्यग्दर्शन और फिर चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत-तप या चारित्र माने तो उसे मोक्षमार्ग की विधि मालूम नहीं है। बंध-मोक्ष सम्बन्धी विकल्प के पक्ष में खड़ा रहने से आत्मा के स्वभाव का अनुभव नहीं होता। 'मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ'—ऐसे निश्चय सम्बन्धी विकल्प में रुका हुआ जीव भी अभी आत्मा के अनुभव से बाहर है। बंध-मोक्ष के विकल्प का कर्तृत्व छोड़कर, आनन्दस्वरूप आत्मा में ढलने से सम्यग्दर्शनरूपी प्रथम धर्म होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अधिकारी जगत में पर के कर्तृत्व से उदास है। मेरा चैतन्यतत्त्व

जगत से भिन्न है और राग की वृत्ति का कर्तृत्व भी मेरे चैतन्य में नहीं है;—ऐसे यथार्थ लक्षपूर्वक वह चैतन्य के अनुभव का उद्यमी है। राग की वृत्ति का उत्थान, वह चैतन्य के अनुभव का उपाय नहीं है, किन्तु चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता का उद्यम ही चैतन्य के अनुभव का उपाय है।

अहा, चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है, उसका लक्ष भी जीव ने कभी नहीं किया। जगत के पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इस आत्मा से भिन्न हैं; एक रजकणमात्र का भी कर्तृत्व आत्मा में नहीं है।—ऐसे आत्मा को लक्ष में लिये बिना, पर के कर्तृत्व की बुद्धि में अटके हुए जीव अंतरस्वभावोन्मुख कहाँ से होंगे? पर के कर्तृत्व की बात तो दूर रही, यहाँ तो आचार्यदेव अंतर की सूक्ष्म बात समझाते हैं कि चैतन्य के आँगन में आकर भी अब तक 'बद्ध-मुक्त' के विकल्पों में रुकता है, तब तक शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। चैतन्यस्वभाव में बद्ध-मुक्त सम्बन्धी राग-विकल्प नहीं होते, इसलिये उन राग-विकल्पों के कर्तृत्व में अटके हुए जीव को (-भले मुक्त सम्बन्धी विकल्प हों तथापि) शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। शुद्धात्म की ओर ढलने से पहले प्रारम्भ में वैसे विकल्प होते हैं अवश्य, किन्तु वे विकल्प साधक नहीं, बाधक हैं; इसलिये विकल्पों से पार होकर अंतर्मुख साक्षात् चिदानन्दस्वरूप का स्वाद लेना, वह 'समयसार' है, वही सम्यग्दर्शन है..... उसमें आत्मा की फतह है।

अहो, यह अपूर्व बात है.... अपूर्व कल्याण करने की यह बात है। ऐसी अपूर्व प्रतीति करने में ही जीवन की सफलता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! एकबार हमारी बात सुनकर लक्ष में तो ले..... ऐसा ही मेरा स्वभाव है—ऐसा लक्ष में लेकर, रुचिपूर्वक स्वीकार तो कर! इस बात का स्वीकार करने से तेरा अपूर्व कल्याण होगा। देखो, इस फतेहपुर में आत्मा की फतह हो—ऐसी सुन्दर बात आई है। आत्मा अज्ञानभाव से हार गया है; इस बात को समझने से आत्मा की फतह होती है और वह संसार से छूटकर सिद्धदशा प्राप्त करता है।

# बंधन से छूटने का उपाय बतलाकर

## आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा तृप्त करते हैं

( श्री समयसार गाथा ६९ से ७२ के प्रवचनों का सारांश )

[ अंक १८८ से आगे ]

**भेदज्ञान होने पर आत्मा की अंतर परिणति ऐसी पलट जाती है मानो सम्पूर्ण आत्मा ही बदल गया हो! ज्ञान और वैराग्य—यह दो सम्यग्दृष्टि की मुख्य शक्तियाँ हैं कि जिनके कारण उसे बंधन नहीं होता, किन्तु निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि का हृदय अगाध है, अत्यन्त पात्रता के बिना उसे नहीं पकड़ा जा सकता। अहा! ज्ञानी तो महावैराग्य की मूर्ति हैं.... उनके रोम-रोम में, चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश में राग से उदासीनता परिणमित हो गई है। वे सम्यक्त्वी हंस आत्म-आराम में.... चैतन्योद्यान में निजानन्द की केलि करते हैं। ऐसी दशा प्रगट करने की यह बात है।**

(१३४) भेदज्ञान कैसा होता है और वह भेदज्ञान होने पर आत्मा की कैसी दशा होती है, उसका यह वर्णन है। आत्मा और रागादि को पृथक् जाननेवाला भेदज्ञान, रागादि से पृथक् है। भेदज्ञान होने के बाद ज्यों के त्यों रागद्वेष नहीं रहते। ज्ञान ने उन रागादि को अपने से भिन्न जान लिया है, इसलिये रागादि का बल एकदम घट गया है। यह कोई बाह्य क्रिया की बात नहीं है किन्तु आत्मा की अंतरपरिणति की बात है। भेदज्ञान होने पर आत्मा की अंतरपरिणति ऐसी अलौकिक हो जाती है मानो सम्पूर्ण आत्मा ही पलट गया हो.... आत्मा की सम्पूर्ण दशा ही बदल जाती है.... पहले की और अभी की दशा में आकाश-पाताल जितना महान अंतर है।

(१३५) भेदज्ञान की अपूर्व कला जिसके हृदय में जागृत हुई है, वह धर्मात्मा जगत में सहज वैरागी होता है। भेदज्ञान होने पर भी विषय सुखों में ज्यों की त्यों मग्नता बनी रहे, ऐसा कभी नहीं बनता।—

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत संभवे नांही॥

पाँच इन्द्रियों के विषयों में ज्यों की त्यों लोलुपता का वेदन करता हो, मानों उनमें से सुख का स्वाद आ रहा हो—ऐसी निमग्नतापूर्वक विषयों में वर्तता हो, रुचि न बदले, इन्द्रिय विषयों में से

किंचित् विरक्तता न हो, राग-द्वेष बिलकुल कम न हों और ऐसा कहे कि मुझे ज्ञान हुआ है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, तो वह तो मात्र शुष्कज्ञानी है, सम्यग्ज्ञानी की दशा कैसी होती है, उसकी उसे गंध भी नहीं है।

(१३६) सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होात है—**सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य शक्तिः** ज्ञान और वैराग्य, यह दो सम्यग्दृष्टि की मुख्य शक्तियँ हैं कि जिनके कारण उसे बंधन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख हो और रागादि से विरक्त न हो—ऐसा कैसे हो सकता है ? ज्ञानी का हृदय विषयों से और राग से अत्यन्त विरक्त होता है; उसे रागादि और विषयों से आत्मा की अत्यन्त भिन्नता प्रतिभासित होती है। ज्ञानी को किंचित् रागादि होते दिखाई दें, वहाँ स्थूल अज्ञानी को ऐसा लगता है कि—इन ज्ञानी को भी हमारी ही भाँति रागादि होते हैं; किन्तु राग के समय सम्यग्दृष्टि का हृदय कुछ दूसरा ही कार्य करता है कि जो राग से बिलकुल भिन्न है, उसे वह अज्ञानी पहिचान नहीं सकता। सम्यग्दृष्टि का हृदय अगाध है; अत्यन्त पात्रता के बिना उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अहा ! ज्ञानी तो महावैराग्य की मूर्ति है.... उनके रोम-रोम में, चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश में राग से उदासीनता परिणमित हो गई है.... राग से उनका हृदय अत्यन्त विरक्त है... सम्यग्दृष्टि का हृदय समस्त जगत से उदास है। इसीलिये कहा है कि:—

**दास भगवंत के, उदास रहें जगत सों;**
**सुखिया सदैव ऐसे, जीव समकिती हैं॥**

(१३७) अपने चैतन्यस्वरूप को पवित्र जानता हुआ राग से पृथक् होकर सम्यक्त्वी-हंसी अपने आत्म-आराम में.... चैतन्योद्यान में निजानन्द की केलि करता है। बीच में राग आये तो वह दुर्गन्ध के समान अपवित्र भासित होता है.... उससे वेदन की उसे रुचि नहीं है। उसे तो चैतन्य स्वभाव की ओर का ही उत्साह है; राग की ओर का उत्साह टूट गया है; इसलिये उत्साह रहित जो थोड़ा सा राग रहा है, उसकी कोई गिनती नहीं है। स्वभाव की ओर के उत्साह का वेग होने से उसके बंधन टूटते ही जाते हैं। इसीलिये कहा है कि भेदज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी को बंधन नहीं होता।

(१३८) ज्ञानी की परीक्षा करने तथा पहिचानने की रीति भी जगत के जीवों को नहीं आती, इसलिये अपनी कल्पनानुसार माप निकालते हैं। पहले दर्जे के अज्ञानी ऐसे हैं कि मात्र बाह्य वेश से परीक्षा करते हैं; दूसरे दर्जे के अज्ञानी बाह्य क्रिया देखकर परीक्षा करते हैं और तीसरे दर्जे के अज्ञानी

कषाय की मन्दता के आधार से माप निकालते हैं। लेकिन वह कोई रीति ज्ञानी को पहिचानने की सच्ची रीति नहीं है। जो सच्चा जिज्ञासु है, वह तो अंतर की तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करता है कि सामनेवाले जीव के श्रद्धा-ज्ञान कैसे हैं? उसे स्वाश्रित चैतन्यभगवान की श्रद्धा है या नहीं? राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति है या नहीं? राग से लाभ मानता है या उससे पृथक् रहता है? —उसकी रुचि का बल किस दिशा में कार्य कर रहा है? उसके वेदन में काहे की मुख्यता है?— इसप्रकार अंतर के श्रद्धा-ज्ञान के द्वारा जो जीव, धर्मात्मा को पहिचानता है, वह सुपात्र है।

(१३९) कोई ज्ञानी हो, तथापि पुण्ययोग से बाह्य संयोग अधिक होता है, और कोई अज्ञानी हो, तथापि बाह्य-संयोग कम होता है; इसलिये संयोग के आधार से ज्ञानी-आानी का माप नहीं निकाला जाता।

किसी जीव ने वस्त्रादि छोड़कर मुनि का द्रव्यलिंग धारण कर लिया हो, तथापि अभिप्राय में मिथ्यात्व का सेवन होता हो—ऐसा भी हो सकता है, तथा कोई जीव वस्त्रादि सहित गृहस्थपने में होने पर भी अंतर में सम्यग्दृष्टि हो सकता है;—इसलिये बाह्य-वेश के आधार से ज्ञानी-अज्ञानी की परीक्षा नहीं हो सकती।

कोई अज्ञानी जीव मंदकषाय के कारण इतना शांत हो गया हो कि—जीवित जला देने पर भी क्रोध न करे, तथापि अंतर में कषाय से भिन्न चिदानन्द आत्मा का उसे भान नहीं होता; वह बंध मार्ग में ही पड़ा है, मोक्षमार्ग की उसे खबर भी नहीं है। और किसी ज्ञानी को अस्थिरता जन्य क्रोध हो जाता हो, किन्तु 'मेरा क्षमाशील वीतरागी चैतन्यस्वभाव इस क्रोध से भिन्न है'—ऐसी प्रतीति उसके अंतर में वर्त रही है, इसलिये सचमुच वह बंधमार्ग में नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग में वर्त रहा है।—इसप्रकार मात्र कषाय की मन्दता के आधार से ज्ञानी-अज्ञानी की सच्ची पहिचान नहीं होती।

प्रथम तो स्वयं ही, भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, उसे जान ले तो तद्नुसार ज्ञानी-अज्ञानी की पहिचान भी कर सकता है। जो स्वयं अज्ञान में खड़ा हो, वह ज्ञानी की पहिचान कैसे कर सकेगा?

(१४०) भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि दोनों सम्यक्त्वी धर्मात्मा थे, तथा दोनों चरम शरीरी थे। दोनों भाइयों ने परस्पर युद्ध किया.... जिसमें भरत की विजय न हो सकी और उन्होंने क्रोध में आकर बाहुबलि पर चक्र फेंका। चारों ओर हाहाकार मच गया। परन्तु बाहुबलि तो भरत के भाई और साथ ही चरमशरीरी थे; इसलिये चक्र भी असफल गया। क्योंकि अपने गोत्रीय

बन्धुओं पर तथा चरमशरीरी जीवों पर चक्र नहीं चल सकता। इसलिये भरत के छोड़े हुए चक्र से बाहुबलि का बालबाँका भी नहीं हुआ; किन्तु बाहुबलि के अंतर में उसी समय संसार के प्रति वैराग्य जागृत हो गया कि—अरे! यह क्या? इस क्षणभंगुर राज्य के लिये आज भरत को मेरे ऊपर चक्र छोड़ना पड़ा!! धिक्कार है इस राज्य पर! धिक्कार है इस मोह पर! राज्य के लिये यह सब क्या हो रहा है?—इसप्रकार वैराग्य प्राप्त करके मुनि हुए और एक वर्ष तक अडिग ध्यान करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। साधारण जीवों को तो ऐसा लगेगा कि अरे, ज्ञानी होकर युद्ध करते हैं—यह क्या? इसप्रकार बाह्य बुद्धि जीवों को तो इतना ही दिखाई देता है कि दोनों परस्पर युद्ध कर रहे हैं; किन्तु उस समय भी दोनों को अपने शुद्ध पवित्र आनन्दघन ज्ञातास्वभाव की प्रतीति वर्त रही है; भेदज्ञान के बल से उस समय भी उनकी परिणति युद्ध के भाव से भिन्न ज्ञाताभावरूप परिणमित हो रही है; उसे बाह्य बुद्धि जीव नहीं देख सकते। युद्ध के समय भी भरत और बाहुबलि का ज्ञान—'मैं चिदानन्द आत्मा पर से भिन्न हूँ'—ऐसे ज्ञानरूप परिणमित हो रहा है, अथवा 'मैं क्रोध हूँ'—इसप्रकार युद्ध के भावरूप परिणमित हो रहा है?—यह कौन निश्चित करेगा? जिसे क्रोध और ज्ञान का भेदज्ञान होगा, वही इसका निर्णय कर सकता है। बिल्ली जिस मुँह से अपने बच्चे को पकड़ती है, उसी मुँह से चूहे को भी पकड़ती है। किन्तु 'पकड़-पकड़ में फेर है'; उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्य क्रियाएँ एक-सी दिखाई देती हों, तथापि उनके अंतर परिणमन में महान अंतर होता है। अज्ञानी तो राग में ही तल्लीन वर्तता है; राग के समय उसे उससे किंचित् भिन्नता नहीं रहती, जबकि ज्ञानी को तो राग से अत्यन्त भिन्नता का भेदज्ञान उदित हुआ है, इसलिये उसे राग से भिन्नता ही रहती है।

(१४१) आत्मा का ज्ञानस्वभाव और क्रोधादि परभाव—इन दोनों को पृथक् करता हुआ भेदज्ञान उदित हुआ है। भेदज्ञान किसप्रकार उदित हुआ है?—तो कहते हैं कि—'चिदानन्द स्वभाव ही मैं हूँ'—इसप्रकार स्वभाव की अखण्डता को साधता हुआ, तथा 'यह रागादि परभाव मैं नहीं हूँ'—इसप्रकार परपरिणति को छोड़ता हुआ भेदज्ञान उदित हुआ है। तथा ज्ञान कर्ता और क्रोधादि उसका कर्म,—ऐसा जो कर्ता-कर्म का भेद, उसे तोड़ता हुआ अत्यन्त प्रचण्डरूप से वह ज्ञान उदित हुआ है। अत्यन्त प्रचण्ड अर्थात् तीक्ष्ण ज्ञान जहाँ स्वभाव को साधता हुआ जगमगाहट करता प्रगट हुआ, वहाँ रागादि के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कहाँ से होगा? और कर्म का बंधन भी कैसे होगा? 'मैं निर्मल चिदानन्द मूर्ति हूँ और रागादि भाव मेरे स्वरूप से बाह्य

हैं'—इसप्रकार स्वरूप की अखण्डता को साधता हुआ और परपरिणति को छोड़ता हुआ जो भेदज्ञान उदित हुआ, उसमें परभावों के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं होता तथा कर्म का बंधन भी नहीं होता। स्वभाव में परिणमित होता हुआ तथा परभाव को छोड़ता हुआ वह ज्ञान, कर्मबंध को छेदकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराता है। इसप्रकार भेदज्ञान ही बंधन से छूटने का उपाय है।

—[गाथा ६९ से ७२ तक पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों के इस सारांश में पूज्य बेनश्री लिखित प्रवचनों में से भी कुछ महत्त्वपूर्ण अंश लिये गये हैं, जिसके लिये उनके आभारी हैं।]

## कभी नहीं छोड़ता

आत्मा, शरीर से तथा विकार से भिन्न रहता है, किन्तु अपने स्वभावरूप ज्ञानमात्र भाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जिसप्रकार शक्कर मैल को छोड़ती है किन्तु मिठास को नहीं छोड़ती; अग्नि धुएँ को छोड़ती है किन्तु उष्णता को नहीं छोड़ती; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा रागादि-विकार भावों को छोड़ता है किन्तु अपने ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता। इसलिये ज्ञानभाव द्वारा अपने आत्मा को लक्ष में लेकर आत्मा की प्रसिद्धि कर... आत्मा का अनुभव कर!

निजभावने छोड़े नहीं, परभाव कंई पण नव ग्रहे,
जाणे-जुओ जे सर्व ते हुँ,—अेम ज्ञानी चिंतवे।

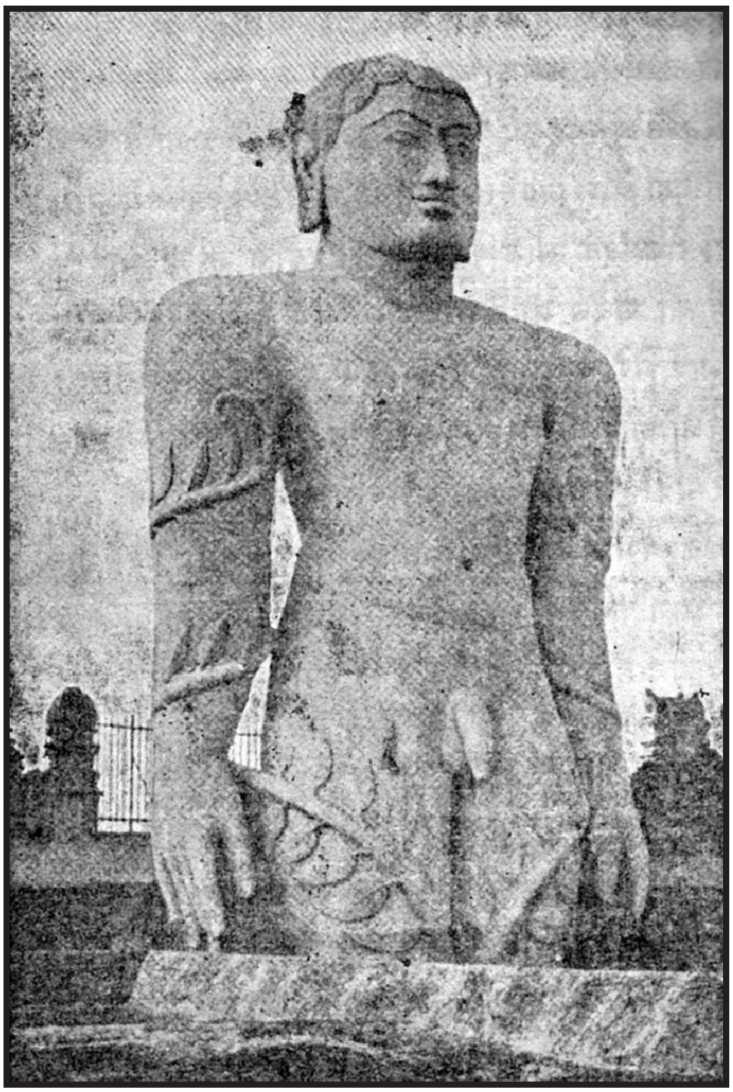

# क्या देखा ?

बाहुबलि भगवान के दर्शन-यात्रा के बाद एक पण्डितजी ने गुरुदेव से पूछा कि—महाराज ! आपने वहाँ क्या देखा ?

गुरुदेव ने अत्यन्त प्रमोदपूर्वक कहा कि अहा ! मैंने पुण्य और पवित्रता दोनों की अद्‌भुतता देखी। उनकी मुद्रा ऐसी अचिंत्य है कि—एक बार तो नास्तिक में भी श्रद्धा उत्पन्न कर दे.... उनकी

मुद्रा से तथा प्रत्येक अवयव से पुण्य और पवित्रता मानों झर रहे हैं। विश्व का वह एक आश्चर्य है... उसका निर्माण भी आश्चर्यजनक ढंग से हुआ है। खड़े-खड़े केवलज्ञान की साधना किस प्रकार की होगी, वह उनकी मुद्रा से दिखाई दे रहा है। तीन दिन से लगातार डेढ़-डेढ़ घण्टे तक देखने पर भी ऐसा लगता है कि अभी देखते ही रहें।—ऐसी अचिंत्य मुद्रा है!

—पूछनेवाले थे पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर। गुरुदेव का उत्तर सुनकर उन्हें अत्यन्त आनन्द और आश्चर्य हुआ... और लगा कि महाराज के यह शब्द तो लिखकर प्रकाशित करने योग्य हैं।

—आज एक वर्ष बाद भी जब-जब उस अवसर की बात निकलती है, तब गुरुदेव उतने ही प्रमोदपूर्वक उपरोक्त बात कहते हैं.... और मानों इस समय भी बाहुबलि भगवान के समक्ष खड़े हों—इसप्रकार उनका वर्णन करते हैं।

# आत्म-आराधन का प्रसाद

श्री नियमसार गाथा १५८ में आचार्यदेव कहते हैं कि-स्वयंबुद्ध ऐसे तीर्थंकर अथवा बोधितबुद्ध ऐसे अन्य धर्मात्मा-पुरुष अप्रमत्त मुनिदशा से लेकर केवलज्ञान तक के गुणस्थानों की पंक्ति में आरूढ़ होते हुए केवलज्ञान को प्राप्त हुए—किसप्रकार प्राप्त हुए? कि आत्म आराधन के प्रसाद से उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। स्वात्माश्रित ध्यान द्वारा स्वकार्य को साधने में परायण होकर उन्होंने आत्मा की आराधना की; और उस आत्माराधन के प्रसाद से ही वे केवलज्ञानधारी हुए। किसी राग के प्रसाद से केवलज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है। सर्व पुराण पुरुष अर्थात्, पूर्वकाल में जो धर्मात्मा पुरुष मोक्षगामी हुए हैं, उन सभी ने आत्मा की निश्चय आराधना करके उसके प्रसाद से ही मोक्ष प्राप्त किया है।—इसप्रकार अनंत तीर्थंकरादि का उदाहरण देकर आचार्यदेव कहते हैं कि—मोक्ष का यह एक ही मार्ग है कि स्वात्मा के आश्रय से आत्मा की निश्चय आराधना करो। देखो, यह मुमुक्षु का मोक्ष के लिए आवश्यक कार्य! व्यवहार के विकल्प, मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं हैं; उनके प्रसाद से मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता।

यहाँ उत्कृष्ट बात लेना है, इसलिये अप्रमत्त मुनिदशा से लेकर केवलज्ञान की बात की है;

उससे निचली चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान की सम्यग्दर्शनादि दशाएँ भी आत्माराधन के प्रसाद से ही प्राप्त होती हैं; कहीं राग के प्रसाद से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। वहाँ देव-गुरु की भक्ति-बहुमान का भाव होता अवश्य है और 'देव-गुरु के प्रसाद से ही हमें सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हुई'—ऐसा भी धर्मात्मा विनयपूर्वक कहते हैं; लेकिन देव-गुरु ने क्या कहा था ?—उन्होंने तो यही कहा था कि तू अंतर्मुख होकर अपने आत्मा की आराधना कर; अपने स्वात्मा के आश्रय से ही तेरे सम्यग्दर्शनादि होते हैं। श्री देव-गुरु का ऐसा उपदेश स्वयं पात्रतापूर्वक ग्रहण करके तदनुसार स्वात्मा की आराधना की, तब उस आराधना के प्रसाद से सम्यग्दर्शनादि हुए और तभी उपचार से ऐसा कहा गया कि—श्री देव-गुरु के प्रसाद से सम्यग्दर्शन हुआ। श्रीगुरु के कथनानुसार आराधना करने पर श्रीगुरु का प्रसाद मिला; किन्तु जो जीव स्वयं अंतर्मुख होकर आत्माराधन न करे तथा राग से लाभ मानकर उसी के अवलम्बन में रुका रहे, उसे तो राग के प्रसाद से संसार भ्रमण होता है; उसे श्रीगुरु का प्रसाद मिला-ऐसा उपचार से भी नहीं कहा जाता।

कौन-सा आवश्यक कार्य करने से मोक्ष होता है—उसकी यहाँ बात है। निश्चयस्वभाव का आश्रय करके आत्मा की आराधना करना ही परम आवश्यक है; उस आत्माराधन के प्रसाद से ही सम्यग्दर्शन होता है; उसी के प्रसाद से पंचम गुणस्थान प्रगट होता है; उसी के प्रसाद से मुनिदशा होती है तथा उसी के प्रसाद से श्रेणी लगाकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं; इसलिये तू ऐसी आत्म-आराधना में तत्पर हो—ऐसा उपदेश है। अनंत तीर्थंकरों और संतों ने ऐसी आत्माराधना करके ही सिद्धपद प्राप्त किया है..... उन्हें नमस्कार हो।

# मुमुक्षु के विचार

हे जीव! तुझे अंतर में लगना चाहिये कि आत्मा को पहिचाने बिना मेरा उद्धार नहीं है। यह अवसर मिलने पर भी यदि मैंने अपने आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया, तो मेरा कभी छुटकारा नहीं होगा। अरे जीव! वस्तु के भान बिना तू कहाँ जायेगा?—तुझे सुखशांति की प्राप्ति कहाँ से होगी? तेरी सुखशांति तेरी वस्तु में से आयेगी या कहीं बाहर से? तू किसी भी क्षेत्र में चला जा, किन्तु रहेगा तो तू अपने में ही; और परवस्तु भी परवस्तु में ही रहेगी। पर में से तेरा सुख नहीं आयेगा। स्वर्ग में जायेगा तो वहाँ भी तुझे सुख प्राप्त नहीं होगा; सुख की प्राप्ति तो तुझे अपने स्वरूप में से ही होगी, इसलिये स्वरूप को जान। तेरा स्वरूप किसी काल तुझसे भिन्न नहीं है, मात्र अपने को जाने बिना ही तू दु:खी हो रहा है। वह दु:ख दूर करने के लिये तीनों काल के ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि—'आत्मा को पहिचानो!'

—इसप्रकार अंतर विचारणा द्वारा मुमुक्षु जीव सम्यग्दर्शन की भावना भाकर अपने आत्मा को उसके उद्यम में लगाते हैं।

★

# किसलिये?

अरे जीव! अपनी आत्म-शक्ति अथवा अपने ज्ञान-आनन्द को तू किसलिये बाहर ढूँढ़ रहा है? आत्मा की शक्ति तो आत्मा में है, आत्मा की शक्तियाँ कहीं बाहर नहीं हैं; तो फिर बाह्य में किसलिये ढूँढ़ता है?—अंतर में देख न!!

असंख्य प्रदेशों में अनंत शक्ति सम्पन्न ऐसे आत्मा को सर्व प्रकार से प्रत्यक्ष जानकर सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि—अरे जीव! तेरा असंख्य प्रदेशी आत्मा अनंतशक्तिसम्पन्न है; उस ओर उन्मुख हो.... स्वयं से ही तेरी परिपूर्णता है; तेरे स्वरूप में ऐसी कौनसी कमी है जो तू बाह्य में—दूसरों के निकट ढूँढ़ता है? आत्मा की स्वभावशक्ति में जो पूर्ण ज्ञान-आनन्द और प्रभुता का सामर्थ्य था, वही हमने आत्मा में से प्रगट किया है, कहीं बाहर से नहीं लाये... तेरे आत्मा में भी हमारे जैसा सामर्थ्य भरा है, उसे तू जान... उसका विश्वास करके उस ओर उन्मुख हो.... फिर तेरी आत्मशक्ति में से परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द तथा प्रभुता प्रगट हो जायेगी। जो वस्तु स्वयं अपने में है, उसे बाहर किसलिये ढूँढ़ना चाहिये?

## मुक्ति का मार्ग ( दूसरी आवृत्ति )

जिसमें सभी जिज्ञासुओं को समझने में सुगम शैली है। हित के मार्ग में प्रवेश करनेवालों को प्रथम किस-किस बात का ज्ञान जरूरी है। वह बात मुख्यरूप से है—थोक लेकर प्रचार कीजिये पृ० संख्या १०२, मूल्य ५० नया पैसा।

★

## श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

**तीसरा भाग ( दूसरी आवृत्ति )**

**प्रेस में छपना चालू है, १ सप्ताह में तैयार हो जावेगी।**

★

**स्व० दौलतरामजी कृत**

## छहढाला की

**विस्तृत टीका**

छहढाला की ऐसी विस्तृत स्पष्ट टीका अभी तक नहीं छपी। जिज्ञासुओं के मनन करने योग्य टीका है, छप रही है पूर्ण होते ही सूचित किया जावेगा।

★

## समयसार प्रवचन

**प्रथम भाग ( दूसरी आवृत्ति )**

जो कि कुछ दिनों से अप्राप्य हो रहा था, वह प्रेस में छपने दे दिया गया है, जो कि उत्तम ढंग से संशोधन पूर्वक शीघ्र ही प्रकाशित होगा। मूल्य भी कम रखा जावेगा।

**श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट**

**पो० सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )**

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

# अवश्य स्वाध्याय करें

| | | | |
|---|---|---|---|
| पंचास्तिकाय | ४ ॥) | ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव | २ ॥) |
| मूल में भूल | ।।।) | मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द | ५) |
| श्री मुक्तिमार्ग | ॥=) | सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति) | १ ॥= |
| श्री अनुभवप्रकाश | ॥) | द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा) | २) |
| श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह | ।।।) | जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द | १ ।=) |
| समयसार प्रवचन भाग २ | ५ ।) | | |
| समयसार प्रवचन भाग ३ | ४ ॥) | भेदविज्ञानसार | २) |
| प्रवचनसार | ५) | अध्यात्मपाठसंग्रह | ५) |
| अष्टपाहुड़ | ३) | समाधितन्त्र | २ ।= |
| चिद्विलास | १=) | निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ? | =) |
| मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र० | १ ।=) | स्तोत्रत्रयी | ॥) |
| द्वितीय भाग | २) | लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | =) |
| जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र० | ॥–) | 'आत्मधर्म मासिक' लवाजम– | ३) |
| द्वितीय भाग | ॥–) | आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष | ३ ।।।) |
| तृतीय भाग | ॥–) | | |
| जैन बालपोथी | ।) | शासन प्रभाव | =) |

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
**श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)


मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।